भाद्र शुक्ल १, गुरुवार, दिनांक : ३०-८-१९६२
काव्य - १५ से २०, प्रवचन नं.-०४

यह एक विषापहार स्तोत्र भगवान की स्तुति है। धर्म करनेवाले जीव को, जिसे धर्म करना है, उसे किसने धर्म प्ररूपित किया? और सच्चा जाना, ऐसे देव को पहिचाने बिना उसे धर्म होगा नहीं। अरिहन्तदेव कौन है? उनके आत्मा के लक्षण, द्रव्य के, गुण के और पर्याय के जो लक्षण हैं, इस प्रकार से जीव के लक्षण से यदि अरिहन्त को पहिचाने, वह आत्मा को अन्तर में पहिचाने बिना रह नहीं सकता। उसके स्वरूप को वास्तविक अनन्त काल में एक सेकेण्ड भी जाना नहीं। सेठी! अरिहन्त का आत्मलक्षण का क्या स्वरूप, उसे अभी तक अनन्त काल में अज्ञानी ने जाना नहीं। समझ में आया?

मुमुक्षु : रोज भगवान के दर्शन करता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह भगवान के दर्शन राग के करता है। राग... राग और पर।

भगवान अरिहन्त कौन थे? वह दिव्यशक्ति उन्हें अन्तर में कैसी थी? और उन्होंने प्रगट करके पूर्णता की प्राप्ति कैसे की? और वह प्राप्ति ऐसी की ऐसी रही, ऐसे जीव के द्रव्य-गुण-पर्याय के लक्षण, अरिहन्त के जाने, उसे अन्तर में सम्यग्दर्शन हुए बिना नहीं रहता। समझ में आया? वास्तविक अरिहन्त के लक्षण उसने (जाने नहीं)। अनन्त बार नौवें ग्रैवेयक जैन दिगम्बर साधु होकर गया। 'मुनिव्रत धार अनन्त बार ग्रीवक उपजायो, पै (निज) आतमज्ञान बिना सुख लेश न पायो।' यह वीतराग के आत्मा को जो पहिचाने, उसे आत्मा की पहिचान (होती है कि) ऐसी ही मेरी जाति है। जैसा आत्मा वह प्रगटरूप से परिणमे, सोलहवान सोना शास्त्र में दृष्टान्त दिया है न, सोलहवान सोना जो ऐसा उत्कृष्ट रूप से जिसकी दशा प्रगट हुई, ऐसा ही मेरा आत्मा है, क्योंकि मैं भी द्रव्य से पूर्ण हूँ, गुण से पूर्ण हूँ, पर्याय में अल्पज्ञता है परन्तु पर्याय में पूर्ण करने की मुझमें ताकत है। ऐसी अरिहन्त की पहिचान और उनके लक्षण की पहिचान होने से इस आत्मा की ओर झुककर, आत्मदेव को प्रगट करे। उसे आत्मा की भगवान की, अरिहन्त की सच्ची भक्ति और पहिचान हुई कहलाती है। ऐसे तो सब णमो

अरिहंताण... णमो अरिहंताण... (बोलते हों)। कल पूछता था न एक व्यक्ति कि इतने लाख नमस्कार जप डालें तो क्या होगा? राग होगा। समझ में आया? 'नव लाख जपंता नरक निवारे....' नहीं आता? सेठी!

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : कितनी मेहनता की। राग की भूमिका में यह प्रयत्न किया। नौ लाख क्या, अनन्त करोड़ बार नाम जपे। नौवें ग्रैवेयक में अनन्त बार जैन दिगम्बर साधु होकर गया। एक... एक... एक भव में आठ वर्ष में दीक्षा, करोड़ पूर्व तक। उसमें एक-एक दिन के णमोकार सवेरे-शाम के गिनो तो एक भव में अरबों णमोकार हों। क्या कहा, समझ में आया? आठ वर्ष में दीक्षित हुआ तो करोड़ पूर्व तक। एक पूर्व में सत्तर लाख करोड़ वर्ष और छप्पन हजार करोड़ वर्ष जाते हैं। ऐसे हमेशा प्रतिक्रमण करे और सवेरे गिने तो णमोकार तो कितनी बार बोले। तत्प्रमाण आठ वर्ष गुणा करोड़ पूर्व णमोकार एक भव में गिने। जिसका आँकड़ा अरबों-अरबों होता है। ऐसे अनन्त भव किये। समझ में आया? ऐसे अनन्त अरबों-अरबों णमोकार अनन्त बार गिने। परन्तु णमोकार एक बार सच्चा गिना नहीं। समझ में आया? यह अरिहन्तपद, यह आत्मपद, इसकी ऋद्धि और सम्पदा कैसी है? उसे जाने, उसको आत्मा का ज्ञान होता है। तो यह देव की पहिचान १४वें में आ गयी।

हे नाथ! इस जगत में मणि, औषधि, कामधेनु, कल्पवृक्ष या रसायन अर्थात् सिद्धरस। यह सिद्धरस है कि इससे सोना होता है, इससे यह होता है। यह सब नाम प्रभु आपके हैं। समझ में आया? यह सब पर्याय नाम, अन्य नाम, भिन्न-भिन्न नाम, भगवान अरिहन्त पद वह आपके सब नाम हैं। निश्चय से देखें तो भगवान चैतन्यधातु के यह सब नाम हैं। समझ में आया? ध्रुव चिदानन्द, अनादि-अनन्त, अनन्त गुण की खान आत्मा यह उसके सब मणि और औषध, रतन और रसायन, कल्पवृक्ष और कामधेनु और कामकुम्भ ये सब कहलाते हैं, वह आत्मा को लागू पड़ते हैं। ऐसी जिसे पहिचान आत्मा के माहात्म्य की हुई, उसे अल्प काल में संसार का अभाव होकर मोक्ष होता है। यह चौदहवीं गाथा में कहा। उसका जहर उतर गया, उस लड़के का। व्यवहार से।

अन्दर में से जहर उतर गया। स्वरूप की दृष्टि और स्वरूप का बहुमान (हुआ)। आत्म अवलोकन—जिसके अवलोकन की भूमि में एक-एक प्रदेश में अनन्त गुण, एक-एक गुण में अनन्त पर्याय होने की ताकत, ऐसा भगवान एक सेकेण्ड के असंख्य समय में आत्म-अवलोकन से देखे, यह उसे अनुभव होकर अल्प काल में केवलज्ञान होता है। यह चौदहवीं गाथा में कहा, संसार का जहर उतर जाये।

काव्य १५

चित्ते न किञ्चित्कृतवानसि त्वम्,
देवः कृतश्चेतसि येन सर्वम्।
हस्ते कृतं तेन जगद्विचित्रं,
सुखेन जीवत्यपि चित्तबाह्यः॥ १५॥

हे जिनेश! तुम अपने मन में, नहीं किसी को लाते हो।
पर जिस किसी भाग्यशाली के, मन में तुम आ जाते हो॥
वह निज-कर में कर लेता है, सकल जगत को निश्चय से।
तब मन से बाहर रहकर भी, अचरज है रहता सुख से॥

अन्वयार्थ — (देवः) हे देव! (त्वम्) आप (चित्ते) अपने हृदय में (किञ्चित्) कुछ भी (न कृतवान् असि) धारण नहीं करते हैं किन्तु (येन) जिसके द्वारा आप (चेतसि) हृदय में (कृतः) धारण किये हैं, (तेन) उसके द्वारा (सर्वम्) समस्त (जगत्) संसार (हस्ते कृतम्) हाथ में कर लिया गया है — अर्थात् उसने सब कुछ पा लिया है। लेकिन यह (विचित्रम्) आश्चर्य की बात है और आप (चित्तबाह्यः अपि) मन से रहित होते हुए भी (सुखेन जीवति) सुख से जीवित हैं, यह आश्चर्य है।

भावार्थ — यह बात प्रसिद्ध है कि यदि किसी के शरीर पर पाँच हजार के आभूषण हैं तो वह जिस कुर्सी पर बैठेगा, उस कुर्सी पर भी पाँच हजार के आभूषण कहलाते हैं। यदि उसके शरीर पर कुछ भी नहीं है तो कुर्सी पर भी कुछ नहीं कहलाता है। लेकिन हे प्रभु! यहाँ विचित्र ही बात है क्योंकि आपके चित्त में तो कुछ भी नहीं है,

पर जो मनुष्य आपको अपने चित्त में विराजमान करता है, उसके हाथ में सब कुछ आ जाता है।

इस विरोधाभास का परिहार यह है कि यद्यपि आपके पास किसी को देने के लिए कुछ भी नहीं है और रागभाव न होने से आप मन में भी ऐसा विचार नहीं करते कि मैं इस मनुष्य को यह वस्तु दूँ, फिर भी भक्त जीव अपनी शुभ भावनाओं से शुभकर्मों का बन्ध कर, उनके उदयकाल में सब कुछ पा लेते हैं।

अथवा जो यथार्थ में आपको अपने हृदय में धारण कर लेता है, वह आपके समान ही निःस्पृह हो जाता है, उसकी सब इच्छाएँ शान्त हो जाती हैं। वह सोचता है कि 'मुझे और कुछ भी नहीं चाहिए। मैं आज आपको अपने चित्त में धारण कर सका तो मानों तीन लोक की सम्पत्ति मेरे हाथ में आ गयी।'

दूसरा विरोधाभास यह है कि आप चित्त-चेतन से बाह्य होकर भी जीवित रहते हैं। लोक में जो चेतन से रहित हो जाता है, वह मृत कहलाने लगता है, लेकिन यहाँ उससे विरुद्ध बात है। इस विरोधाभास का परिहार यह है कि आप चित्त-बाह्य अर्थात् आप मन से चिन्तवन नहीं करते, फिर भी आप अनन्त सुख से हमेशा जीवित रहते हैं, आप अजर-अमर हैं। तात्पर्य यह है कि आपमें अनन्त सुख है तथा आप इतने अधिक प्रभावशाली हैं कि आपको मन के माध्यम से चिन्तवन नहीं करना पड़ता।

काव्य - १५ पर प्रवचन

१५वीं।

चित्ते न किञ्चित्कृतवानसि त्वम्,
देवः कृतश्चेतसि येन सर्वम्।
हस्ते कृतं तेन जगद्विचित्रं,
सुखेन जीवत्यपि चित्तबाह्यः॥ १५॥

इसका हिन्दी —

हे जिनेश! तुम अपने मन में, नहीं किसी को लाते हो।
पर जिस किसी भाग्यशाली के, मन में तुम आ जाते हो॥

वह निज-कर में कर लेता है, सकल जगत को निश्चय से।
तब मन से बाहर रहकर भी, अचरज है रहता सुख से॥

विरोधाभास कहते हैं, देखो!

इसका अन्वयार्थ - **(हे देव!)** हे अरिहन्त परमात्मा? हे सर्वज्ञदेव त्रिलोकनाथ गुणेश्वर! हे गुण के ईश्वर परमात्मा। **आप अपने हृदय में कुछ भी धारण नहीं करते हैं....** प्रभु! आपके ज्ञान में कुछ भी दूसरा राग-द्वेष, संसार कुछ रखते हैं। **किन्तु जिसके द्वारा आप हृदय में धारण किये हैं,....** परन्तु जिस भक्त के चित्त में आप बस गये हैं। अरिहन्तपद ऐसा है, ऐसा इसने ज्ञान में यह बसाया है। **उसके द्वारा समस्त संसार हाथ में कर लिया गया है**- उसने पूरा जगत—तीन काल-तीन लोक के पदार्थ का ज्ञान उसे हो जाता है। समझ में आया? उसे कर में कर लिया—हाथ में कर लिया।

आप कुछ चित्त में किसी को रखते नहीं। परन्तु आपको जो कोई चित्त में अन्दर रखे.... देखो! यह अरिहन्त भगवान त्रिलोकनाथ की पर्याय की पूर्णता जिसके अन्तर में बैठी, भगवान! उस हाथ में तीन काल-तीन लोक जगत की सब विचित्रता उसने ज्ञान में ले ली। उसे कुछ अपूर्ण ज्ञान रहे और केवलज्ञान न हो, ऐसा नहीं होता। ऐसे अरिहन्त को जिसने अन्तर में माना और देखा, उसने तीन काल-तीन लोक देखे। 'ऐगं जाणहि सव्वं जाणहि।' एक अरिहन्त के द्रव्य-गुण-पर्याय को जानकर चित्त में बैठाया, सब तीन काल-तीन लोक उसने देखे। उसे कुछ न्यूनता या कमी है नहीं। एक बात।

यह आश्चर्य की बात है.... यह आश्चर्य की बात है। **और आप मन से रहित होते हुए भी....** अरे! भगवान! आपकी एक विचित्रता, आप चित्त बाह्य रहते हो, मन से बाह्य रहते हो। आप मन से अचेत रहते हो, तथापि **सुख से जीवित हैं,....** समझ में आया? आप मन के बाहर रहते हो। चेतनस्थित अर्थात् यहाँ चैतन्य स्थित लेना है। 'चित्तरूपी चेतन' जो निमित्त है जानने में, उससे बाहर रहते हो, तथापि सुख से अनन्त जीवन को आनन्द से जी रहे हो। समझ में आया? देखो! यह विरोध, विरोधाभास करके जहर उतारने की बात करते हैं।

भावार्थ — यह बात प्रसिद्ध है कि यदि (मोहन के) किसी के शरीर पर पाँच

हजार के आभूषण हैं.... दृष्टान्त देते हैं। कोई मोहन नाम का व्यक्ति हो, उसके ऊपर पाँच हजार के गहने हों। दागीना समझते हो न? जेबर। **तो वह मोहन जिस कुर्सी पर बैठेगा, उस कुर्सी पर भी पाँच हजार के आभूषण कहलाते हैं। यदि उसके शरीर पर कुछ भी नहीं है तो कुर्सी पर भी कुछ नहीं कहलाता है।** शरीर पर खाली हो तो कुर्सी पर बैठा हो तो खाली कुर्सी कहलायेगी।

लेकिन हे प्रभु! यहाँ विचित्र ही बात है.... भगवान! तुझमें तो कोई विचित्र बात है। **आपके चित्त में तो कुछ भी नहीं है, पर जो मनुष्य आपको अपने चित्त में विराजमान करता है,....** ओहो! समझ में आया? यह लोग ऐसा कहते हैं न बहुत कि भगवान ने देखा ऐसा होगा, हम क्या कर सकते हैं? सेठी! परन्तु भगवान जिसके ज्ञान में बैठे, यह उसे भव नहीं हो सकते। समझ में आया? तीन लोक के नाथ परमात्मा, जिसके ज्ञान में बैठे, उस भक्त को भव की भीड़ नहीं होती। भव नहीं होते, भव नहीं होते, कोलकरार करता आता है कि अल्प काल में केवलज्ञान प्राप्त करेगा। उसने अरिहन्त भगवान ने देखा होगा, वैसा होगा। अरे! सुन न! तूने भगवान का अस्तित्व माना है या नहीं? भगवान ने देखा होगा, वैसा होगा, यह बात बराबर है। परन्तु पहले भगवान है, ऐसा माना है या नहीं? सर्वज्ञ की सत्ता जगत में विराजती है, ऐसी सत्ता को स्वीकारा है? अर्थात् स्वीकार उसे कहा जाता है कि वह अरिहन्त को अन्तर में माने, तब अरिहन्त है, ऐसा स्वीकार कहलाता है।

हे प्रभु! आप जिसके चित्त में विराजमान हैं, यह **उसके हाथ में सब कुछ आ जाता है।** सेठी! तीन काल-तीन लोक उसके ज्ञान में आ गये। इन्द्रादि सब उसके चाकर होकर रहेंगे। ऐसा प्रभु आप जिसके हृदय में बैठे, उसे क्या बाकी (रहे)? समझ में आया? एक बार तो स्तुति करते हुए वह आता है न एक? एकीभाव स्तोत्र। वादीराज मुनि थे, उनके शरीर में कोढ़ था, कोढ़-कोढ़। उनका भक्त जो श्रावक था, उससे एक बार लोक ने चुगली की कि प्रभु! यह तो कोढ़ी का शिष्य है। यह कोढ़ी का शिष्य है और यह राज्य में आकर सबको चेप लगाता है। चेप लगाता है चेप। राजा ने कहा कि अरे! देवानुप्रिया! क्या तुम्हारे गुरु को कोढ़ है? अन्नदाता! मेरे गुरु कोढ़ी नहीं। थे तो

कोढ़ी, हों! अन्नदाता! मेरे गुरु कोढ़ी नहीं। ऐसा कहा गया। कहकर गुरु के पास गया, प्रभु! आज वहाँ ऐसी बात हुई है, हों! किसी ने चुगली की, मैं आपका भक्त हूँ, यहाँ आया। ऐसा हूँ और वहाँ जाता हूँ राज में। वह ऐसी चुगली हुई, आज ऐसा हुआ। शान्ति रखो। वादीराज कहते हैं कि शान्ति रखो। सब अच्छा होगा। ऐसा कहकर एक स्तुति शुरु की। अरे! भगवान! जिस माता के गर्भ में आप आओ और तब नगरी स्वर्ण की हो, वह इन्द्र नगरी सोने की रचे, यह प्रभु! हम तुम्हें आत्मा में निकट स्थापित करते हैं और इस शरीर में रोग रहे, ऐसा नहीं हो सकता। समझ में आया?

यह आप जहाँ माता के उदर में आओ, इन्द्र आकर साफ करे और नगरी स्वर्ण की हो। सोने के गढ़ और रत्न के कंगूरे। प्रभु! त्रिलोकनाथ हमने हमारे ज्ञानमन्दिर में आपको पधराते है, यह हमारे दुःख तुम कैसे देख सकते हो अब? रागादि के दुःख भी प्रभु हम विराजमान तुम्हें ज्ञान में करते हैं। हमारे दुःख आप नहीं देख सकते, हों! हमारे घर में आये। अच्छा व्यक्ति घर में आवे तो कहे, ऐसा कैसे है इन लड़कों को? क्यों पढ़े-बढ़े नहीं? यह फटेहाल कैसे हो? वह ऐसा देख नहीं सकता।

यह नाथ! तीन लोक के नाथ जिसके चरण पड़ें, वहाँ तीर्थ जमीन हो, जिसके चरण जहाँ पड़े वहाँ तीर्थ (होता है), इन्द्र भी जिसे वन्दन करे, उसकी धूल को। प्रभु! हमने चित्त में आपको रखा है, हों! आपको हमने ज्ञान में अन्दर प्रवेश कराया है। प्रभु! अब हमारा दुःख आप नहीं देख सकते, हों! उस दुःख का नाश ही आप कर सकोगे। और यह शरीर भी कोढ़ी रहे, (ऐसा) बने नहीं। सोने की नगरी हो गयी। प्रभु! स्वर्ण समान शरीर हो, वह तो आपका प्रताप है। परन्तु मिलान खाया न (तो) एकदम शरीर का कोढ़ फड़ाक.... फड़ाक.... फड़ाक.... जहाँ स्तुति करने लगे वहाँ। प्रभु! आप ऋषभदेव हो। आपका शरीर सोने का था। सुवर्ण वर्ण में था। आपको अन्दर में बैठाया, हमारा शरीर भी जंगरहित चैतन्य का हो और शरीर में भी रोग रहे नहीं। समझ में आया? सेठी! यह भक्ति चलती है।

इस विरोधाभास का परिहार यह है कि यद्यपि आपके पास किसी को देने के लिए कुछ भी नहीं है और रागभाव न होने से आप मन में भी ऐसा विचार नहीं करते

कि मैं इस मनुष्य को यह वस्तु दूँ, फिर भी भक्त जीव अपनी शुभ भावनाओं से शुभकर्मों का बन्ध कर,.... और अपनी शुद्ध परिणति में आपको बैठाया और आपका ज्ञान यथार्थ अन्दर हुआ, उससे शुद्ध की धारा बहती है। **उदयकाल में सब कुछ पा लेते हैं।** यह वर्तमान परिणति में भी सब ज्ञान की निर्मलता होती है और शुभभाव के कारण बाह्य में संयोग, वह अज्ञानी को न हो, ऐसे संयोग ज्ञानी को मिलते हैं। समझ में आया? वह शुभभाव सम्यग्दृष्टि की भूमिका में जो हो, उससे अनन्त काल में नहीं बाँधा हुआ पुण्य बँधता है और उसे सत्पुण्य कहने में आता है। उस सत्पुण्य के फल में अनन्त काल में शरीर नहीं मिला, ऐसा हमें शरीर मिलेगा। ऐसे रजकणों की दशा जो यह शुभभाव, अनन्त काल में सत् ज्ञान की भूमिका में नहीं हुआ था, ऐसे सत् के अन्तर्दृष्टि की भूमिका के भान में आया हुआ यह भक्ति का भाव, भगवान! हमारा शरीर बदल गया। हम तो बदल ही जायेंगे। बदल गये, परन्तु हमारा शरीर भी (बदल गया)। यह मिला, ऐसा अब शरीर मिलेगा नहीं। सेठी! दो धारा साथ चलती है। एक ओर शुद्ध तथा एक ओर शुभ। इस बन्ध के कारण में संयोग की अनुकूलता, अबन्ध परिणाम में स्वभाव की अनुकूलता। कहते हैं कि जो आपका स्तवन करता है और चित्त में रखता है, उसके शुभकर्म के फलरूप से बहुत संयोग प्राप्त होते हैं।

अथवा जो यथार्थ में आपको अपने हृदय में धारण कर लेता है,... देखो! यथार्थ में। **वह आपके समान ही निःस्पृह हो जाता है,....** ज्ञाता-दृष्टा हो जाता है। कुछ चाहिए नहीं। चाहिए वह हमारे पास है। समझ में आया? **उसकी सब इच्छाएँ शान्त हो जाती हैं।** भगवान! आप वीतराग और जिसने ज्ञान में पधराया, उस ज्ञानभूमिका में पधराया। यह उसे कोई इच्छा नहीं रहती। शान्त... शान्त.... शान्त। हमारे सब काम हो गये। भगवान हमारे घर पधारे। भगवान हमारे घर पधारे।

याद है एक बार? दामनगर का। गायकवाड सरकार निकले थे। तो जेठालालभाई ने वहाँ रुपये बिछाये थे। सिंहासन में, भाई! चाँदी के रुपये। तब तो रोकड़ रुपये थे न? अकेले रुपये बिछाकर सिंहासन बनाया था गायकवाड़ सरकार को बैठाने के लिये। हमारा राजा गायकवाड़। यह दामनगर है न! सयाजीराव आये थे, उन जेठालालभाई के

घर में। जेठालाल त्रिभुवन। सिंहासन दूसरे का नहीं। यह सब रुपये ही ऐसे रचे। सब सिंहासन चाँदी के रुपये का, रोकड़। हों! वह सिंहासन बनाया। दरबारे ने पूछा कि यह क्या है? अन्नदाता! चाँदी का सिंहासन हमारे यहाँ नहीं तो यह रुपये का सिंहासन बनाया है।

उसी प्रकार सर्वज्ञ परमात्मा को पधराने के लिये प्रभु! हमारी पूर्ण शक्ति व्यक्तता तो नहीं। समझ में आया? परन्तु हमारी रोकड़ ज्ञान की परिणति जो चलती है, उसमें आपको पधराया है। समझ में आया? अब भगवान हमारे शरीर में कुछ रोग रहे और यह अस्थिरता का रोग रहे, ऐसा तीन काल में नहीं होता। उसने भगवान को आत्मा में सत्कार और आवकार करके पधराया।

वह सोचता है कि 'मुझे और कुछ भी नहीं चाहिए। ज्ञानी जिसे केवलज्ञान परमात्मदशा, वह अल्प ज्ञान में जिसने पधराया, उसे सर्वज्ञस्वभाव के आश्रय से हुए बिना रहे नहीं। **मैं आज आपको अपने चित्त में धारण कर सका तो मानों तीन लोक की सम्पत्ति मेरे हाथ में आ गयी।'** आहाहा! कहो, समझ में आया? **दूसरा विरोधाभास यह है कि आप चित्त-चेतन से बाह्य....** चित्त अर्थात् मन से **बाह्य होकर भी जीवित रहते हैं।** आपकी कोई विरोधता और विचित्रता **लोक में जो चेतन से रहित हो जाता है, वह मृत कहलाने लगता है,....** चित्त से बाहर हो वह तो मनरहित हो वह तो मर जाये। आप चित्तरहित होकर भी चैतन्य के केवलज्ञान में आनन्द में जी रहे हो।

लेकिन यहाँ उससे विरुद्ध बात है। इस विरोधाभास का परिहार यह है कि आप चित्त-बाह्य अर्थात् आप मन से चिन्तवन करनेयोग्य.... आप चित्त-बाहर हो और जीवों को भी चिन्तवन मन से हो सके ऐसा वह है नहीं। प्रभु! आपकी सत्ता चिन्तवन के बाहर है। आपकी सत्ता इस मन से चिन्तवन हो सके, ऐसा स्वरूप नहीं है। यह तो वचनातीत, विकल्पातीत, रागातीत, वचनातीत है। ऐसे स्वरूप की दृष्टि जिसे हुई प्रभु! उसके हृदय में आप विराजमान हुए।

अनन्त सुख से हमेशा जीवित रहते हैं,.... कहो! यह चित्त बाहर हुआ और कल्पना में आप आ सको नहीं, इस प्रकार से जहाँ अन्तर में निश्चित किया, वहाँ आत्मा

में आनन्द की प्राप्ति हुए बिना नहीं रहती। **आप अजर-अमर हैं।** आप तो अजर-अमर हो। चित्त बाहर निकलकर भी मरे नहीं। चित्त बाहर मनरहित हुए, वे पागल हो गये या मर गये। **तात्पर्य यह है कि आपमें अनन्त सुख है तथा आप इतने अधिक प्रभावशाली हैं कि आपको मन के माध्यम से चिन्तवन नहीं करना पड़ता।**

काव्य १६

त्रिकालतत्त्वं त्वमवैस्त्रिलोकी-
स्वामीति संख्यानियतेरमीषाम्।
बोधाधिपत्यं प्रति नाभविष्यत्,
तेऽन्येऽपि चेद्व्याप्स्यदमूनपीदम्॥ १६॥

त्रिकालज्ञ त्रिजगत के स्वामी, ऐसा कहने से जिनदेव।
ज्ञान और स्वामीपन की, सीमा निश्चित होती स्वयमेव॥
यदि इससे भी ज्यादा होती, काल जगत की गिनती और।
तो उसको भी व्यापित करते, ये तव गुण दोनों सिरमौर॥

अन्वयार्थ — हे प्रभु! (त्वम्) आप (त्रिकालतत्त्वम्) भूत, भविष्यत् और वर्तमान — इन तीनों कालों के पदार्थों को (अवैः) जानते हैं, तथा आप (त्रिलोकी स्वामी) ऊर्ध्व, मध्य और पाताल — इन तीनों लोकों के स्वामी हैं। (इति संख्या) इस प्रकार की संख्या (अमीषां नियतेः) उन पदार्थों के निश्चित संख्यावाले होने से (युज्यते) ठीक हो सकती है परन्तु (बोधाधिपत्यं प्रति न) ज्ञान के साम्राज्य के प्रति पूर्वोक्त प्रकार की संख्या ठीक नहीं हो सकती क्योंकि (चेत्) यदि (ते अन्ये अपि अभविष्यन्) ऐसे और भी पदार्थ होते (तर्हि) तो (इदम्) ज्ञान (अमून् अपि) उन्हें भी (व्याप्स्यत्) व्याप्त कर लेता, जान लेता।

भावार्थ — हे प्रभो! आप तीन काल तथा तीन लोक की बात जानते हैं, इसलिए आपका ज्ञान भी उतना ही है, ऐसा नहीं है; किन्तु आपके ज्ञान का साम्राज्य

सब ओर अनन्त है। जितने पदार्थ हैं, उनको तो ज्ञान जानता ही है, यदि इनके सिवाय और भी पदार्थ होते, तो ज्ञान उन्हें भी अवश्य ही जानता।

काव्य - १६ पर प्रवचन

१६वीं।

त्रिकालतत्त्वं त्वमवैस्त्रिलोकी-
स्वामीति संख्यानियतेरमीषाम्।
बोधाधिपत्यं प्रति नाभविष्यत्,
तेऽन्येऽपि चेद्व्याप्स्यदमूनपीदम्॥ १६॥

त्रिकालज्ञ त्रिजगत के स्वामी, ऐसा कहने से जिनदेव।
ज्ञान और स्वामीपन की, सीमा निश्चित होती स्वयमेव॥
यदि इससे भी ज्यादा होती, काल जगत की गिनती और।
तो उसको भी व्यापित करते, ये तव गुण दोनों सिरमौर॥

देखो! यहाँ लोग कहते हैं कि भगवान तीन काल और तीन लोक को जानते हैं। हाँ, महाराज! वहाँ तो सीमितता हो गयी। वहाँ सीमित हो गये ऐसा। तीन काल और तीन लोक वह सीमित हो गये ऐसा। वे कहते हैं, यह अभी नहीं। परन्तु आपका ज्ञान सीमित नहीं है। ज्ञेय तीन काल और तीन लोक सीमित हो गये कि यह तीन काल इतने और तीन लोक इतने। समझ में आया? वे कहते हैं, ऐसा नहीं, हों! वापस वे कि भगवान ने अनन्त को जाना, इसलिए वहाँ उसमें अन्त आ गया, ऐसा नहीं है। उस अनन्त को अनन्तरूप से जाना, वह भी एक सीमा आ गयी। ऐसा कहते हैं। वहाँ वस्तु की। परन्तु आपके ज्ञान में सीमा नहीं, प्रभु! इसकी अपेक्षा अनन्त काल होता और अनन्त लोकालोक होता तो भी आप ज्ञान की एक समय की पर्याय में जान सकते हैं। देखो! एक माहात्म्य केवलज्ञान। समझ में आया?

आता है न? परमात्मप्रकाश में आता है। धर्मदास क्षुल्लक में आता है। दृष्टान्त

आता है कि भगवान! यह बाँस का मण्डप होता है न? बाँस का मण्डप—माँडवो। उसमें बेल चढ़ती है, बेल। चढ़ते.... चढ़ते.... चढ़ते.... उसके बाँस के ठोंगा हो वहाँ तक जाती है। फिर कहाँ जाये? फिर ऊपरा-ऊपर ऐसे हो। इसलिए बाँस के ठोंगा.... ठोंगा समझते हो? छोर-छोर। परन्तु प्रभु! उस बाँस के छोर तक गयी परन्तु बेलड़ी में सामर्थ्य तो बहुत है।

इसी प्रकार हे नाथ! यह लोकालोक और तीन काल का मण्डप, यह इसे ज्ञान पहुँच जाता है। परन्तु ज्ञान इतना ही है, ऐसा नहीं है। इससे भी प्रभु! अनन्त... अनन्त... अनन्त... अनन्त... जिसकी एक समय की दशा में, एक समय के ज्ञान का अंश, वह अंश, अंशी तो पूरा रह गया। उस अंश में भी इस लोकालोक को सीमित तुमको.... सीमित अर्थात् यह है इतना ऐसा। परन्तु यहाँ तो सीमित बिना का ज्ञान है। अनन्त-अनन्त काल इससे तीन गुना होता अनन्त गुणा और अनन्त गुणा लोकालोक (होता) तो आपका ज्ञान जान ले। ऐसा विकल्पातीत चैतन्य की महिमा करने का यह विषय है।

आप भूत, भविष्यत् और वर्तमान—इन तीनों कालों के पदार्थों को जानते हैं, तथा आप ऊर्ध्व, मध्य और पाताल—इन तीनों लोकों के स्वामी हैं। स्वामी हो, वश है। **इस प्रकार की संख्या....** संख्या अर्थात् मर्यादा। मर्यादा अर्थात् अनन्त को अनन्तरूप से संख्या ऐसा। **उन पदार्थों के निश्चित संख्यावाले होने से ठीक हो सकती है....** उतने अनन्त हैं, ऐसी संख्या। संख्या अर्थात् सीमित, ऐसा नहीं। अनन्त अनन्त है, ऐसा आपने जाना परन्तु उस अनन्त की सीमा आ गयी कि यह अनन्त है ऐसा। **परन्तु ज्ञान के साम्राज्य के प्रति....** ज्ञान का राज प्रभु आपका.... आहाहा! जिसे इस ज्ञान के साम्राज्य की महिमा आयी, यह उसे अनित्य पदार्थ और राग की महिमा अन्तर से छूट जाये। ऐसा कहते हैं। समझ में आया?

साम्राज्य के प्रति पूर्वोक्त प्रकार की संख्या ठीक नहीं हो सकती.... संख्या अर्थात् ऐसा कि जितना तीन काल और तीन लोक है, उतनी ज्ञान की मर्यादा नहीं है। उससे अनन्त गुणी है। देखो न! अब वे कहते हैं कि नहीं, केवलज्ञान में अमुक ही जाने। अमुक जाने, सामान्य जाने, विशेष न जाने। वह कहे, एक-दूसरे के अपेक्षित धर्म न

जाने। अरे! भगवान! तुझे ज्ञानगुण की एक समय की पर्याय, उसकी सत्ता का स्वीकार तूने किया नहीं। उस सत्ता का स्वीकार जिसकी दृष्टि में अन्दर ज्ञान में आवे, वह अल्प काल में केवलज्ञानी हो जाये। समझ में आया? ऐसे तो सब णमो अरिहंताणं, णमो सिद्धाणं किया ही करे। सवेरे से उठे तो। क्या कुछ कहते हैं? पार्श्वनाथ परचो पूरो। ऐसा कहते हैं न? शान्तिनाथ शान्ति करो। साता करो। दाँतन-बाँतन करके इतना दो-चार बोले। हो गया धर्म, लो। भगवान को स्मरण किया था सवेरे। धूल में भी स्मरण नहीं किया। यदि भगवान को एक बार स्मरण करे और भगवान न हो, यह तीन काल में नहीं होता। स्मरण किया। परन्तु स्मरण कब करे? भगवान का, आत्मा का, द्रव्य का, गुण का, पर्याय का स्वरूप पकड़कर, विचारकर, निर्णय कर, धारण किया होता तो उसका स्मरण होता। परन्तु उसने धारण नहीं किया। उसने तो स्मरण किया राग का। भगवान ऐसे थे। ओहोहो! परन्तु क्या ओहोहो... यह? समझ में आया? इस देव को इसने दिव्यशक्ति की प्रगटता को पहिचाना नहीं। अनन्त-अनन्त लोकालोक और काल होता, प्रभु! आपके ज्ञान के साम्राज्य में संख्यातीत नहीं। वहाँ सीमा आती (नहीं)। ऐसे सीमा आती नहीं।

क्योंकि यदि ऐसे और भी पदार्थ होते तो ज्ञान उन्हें भी व्याप्त कर लेता, जान लेता। उन्हें भी ज्ञान जान ले। क्या उसका कहना? आहाहा! अरे! यह कितनी बात अभी केवलज्ञान के लिये घुटती है और कितनी विपरीतता लेते हैं। आहाहा! केवलज्ञान सर्व द्रव्य पर्याय को जानता है। परन्तु छद्मस्थ उसके विषय को निर्णय कर (नहीं) सकता है। अरे! भगवान! तू क्या कहता है यह? समझ में आया? भावश्रुत के ज्ञान में केवलज्ञान कितना ऐसा निर्णय छद्मस्थ कर सकता है। समझ में आया? भले अपरिमित उसकी शक्ति पर्याय में हो। परन्तु श्रद्धा के ज्ञान में एक समय में तीन काल-तीन लोक प्रभु आपने देखे तत्प्रमाण वहाँ होता है। तत्पश्चात्। परन्तु यह देखा उसका सामर्थ्य इससे अनन्त गुणा है। उसे ज्ञान में बैठाया यह उसे विकल्प से रहित हुए बिना यह अनन्त ज्ञान का माहात्म्य अन्दर में बैठता नहीं। समझ में आया? भगवान... भगवान किया करे। महावीर.... महावीर.... महावीर.... महावीर.... रटा कर न अब। भगवान किसे कहना? उस तोते को पुरी दे न पुरी। बोल तोता रघुराम। वह यह मानो यह पुरी

रघुराम होगी। या मूंग के आते है न, क्या कहलाते हैं उसके? दाने। यह मूंगफली के दाने आते हैं न? तोता को मीठे लगे। ऐसे ऊपर लाल और अन्दर मीठा। वह माने कि मीठा रघुराम होगा ऐसा। अरे! बापू! 'निजपद रमे सो राम कहिये।' रघुराम कौन है, इसकी तुझे खबर नहीं। परन्तु ऐसे णमो अरिहंताणं रट-रटकर मर जाये अनन्त काल से। परन्तु अरिहन्त के पद के अन्तर स्वरूप के भान बिना बेहद तेरी जाति प्रभु। आहाहा! बेहद ज्ञान की प्रतीति जिसे। वह राग की हद में, वह श्रद्धा में रह सकेगा ही नहीं। समझ में आया? राग, वह सब मर्यादित चीज़ है। उसे अन्तर ज्ञान की महिमा में उसका स्वभाव लाये बिना रहेगा नहीं। जिसे अनन्त आयी, महिमा आयी उसे।

भावार्थ :- हे प्रभो! आप तीन काल तथा तीन लोक की बात जानते हैं, इसलिए आपका ज्ञान भी उतना ही है, ऐसा नहीं है;.... उतना ही है, ऐसा नहीं है; किन्तु आपके ज्ञान का साम्राज्य सब ओर अनन्त है। चारों ओर से अनन्त है। ओहोहो! उसमें लिया है न? ज्ञान की एक समय की पर्याय, उसमें अनन्त सत् और थट और नट लिया है न? एक समय की पर्याय। अनन्त गुण को, अनन्त द्रव्य को ज्ञान में जाने। इतना तो अन्दर में एक समय में नाच हो रहा है। समझ में आया? इस नाच में वापस ठठ और सब सत्ता का स्वीकार और उस सत्ता का सामर्थ्य और उसकी कला, उसके भाव ऐसा कहकर बड़ा लिया है। बनारसीदास ने लिया है। दीपचन्दजी ने (लिया है)। समझ में आया? ऐसा भगवान अवलोकन करनेयोग्य, उसे देखे नहीं, जाने नहीं, माने नहीं, पहिचाने नहीं, और कहे, भगवान जाने और भगवान की भक्ति की। ठीक है, शुभभाव आदि होगा और फिर चार गति में वह का वह भटकने का रहेगा। परिभ्रमण मिटेगा नहीं। कहो, समझ में आया? **किन्तु आपके ज्ञान का साम्राज्य सब ओर अनन्त है। जितने पदार्थ हैं, उनको तो ज्ञान जानता ही है, यदि इनके सिवाय और भी पदार्थ होते, तो ज्ञान उन्हें भी अवश्य ही जानता।**

काव्य १७

नाकस्य पत्युः परिकर्म रम्यं,
नागम्यरूपस्य तवोपकारी।
तस्यैव हेतुः स्वसुखस्य भानो-
रुद्विभ्रतश्छत्रमिवादरेण॥

प्रभु की सेवा करके सुरपति, बीज स्वसुख के बोता है।
हे अगम्य अज्ञेय! न इससे, तुम्हें लाभ कुछ होता है॥
जैसे छत्र सूर्य के सम्मुख, करने से दयालु जिनदेव।
करनेवाले ही को होता, सुखकर आतपहर स्वयमेव॥

अन्वयार्थ — हे प्रभु! (नाकस्य पत्युः) इन्द्र की (रम्यम्) मनोहर (परिकर्म) सेवा, (अगम्यरूपस्य) अज्ञेय स्वरूप (तव) आपका (उपकारि न) उपकार करनेवाली नहीं है किन्तु जिसका स्वरूप अप्राप्य है — ऐसे (भानोः) सूर्य के लिए (आदरेण) आदरपूर्वक (छत्रम् उद्विभ्रतः इव) छत्र धारण करनेवाले की तरह, (तस्य एव) उस इन्द्र के लिए ही (स्वसुखस्य) आत्मसुख का (हेतुः) कारण है।

भावार्थ — जिस प्रकार कोई सूर्य के लिए छाता लगावे तो उससे सूर्य का कुछ भी उपकार नहीं होता क्योंकि वह सूर्य छाता लगानेवाले से बहुत ऊपर है परन्तु छाता लगानेवाले को अवश्य ही छाया का सुख होता है; उसी प्रकार इन्द्र आपकी सेवा करता है, उससे इन्द्र को ही लाभ होता है क्योंकि वह अशुभास्रव से बच जाता है।

काव्य - १७ पर प्रवचन

१७ (श्लोक)।

नाकस्य पत्युः परिकर्म रम्यं,
नागम्यरूपस्य तवोपकारी।

तस्यैव हेतुः स्वसुखस्य भानो-
रुद्विभ्रतश्छत्रमिवादरेण ॥

प्रभु की सेवा करके सुरपति, बीज स्वसुख के बोता है।
हे अगम्य अज्ञेय! न इससे, तुम्हें लाभ कुछ होता है॥
जैसे छत्र सूर्य के सम्मुख, करने से दयालु जिनदेव।
करनेवाले ही को होता, सुखकर आतपहर स्वयमेव॥

देखो! दृष्टान्त देकर कितना भक्ति का उत्साह है!

अन्वयार्थ :- हे प्रभु! इन्द्र की मनोहर सेवा, अज्ञेय स्वरूप आपका.... हे नाथ! आपका स्वरूप तो अगम्य है। ऐसी इन्द्र की सेवा **आपका उपकार करनेवाली नहीं है....** इन्द्र की सेवा आपको उपकार नहीं करती। समझ में आया? **किन्तु जिसका स्वरूप अप्राप्य है—ऐसे सूर्य के लिए....** परन्तु आपका स्वरूप तो अप्राप्त अलौकिक है। **ऐसे सूर्य के लिए आदरपूर्वक छत्र धारण करनेवाले की तरह,....** यह प्रभु सूर्य के सामने स्वयं छत्र रखते हैं न, वह छत्र कहीं सूर्य को पहुँचता नहीं है। परन्तु छत्र के धारक को आताप हर लेता है। क्या कहा, समझ में आया? लो, यह पाँच स्तोत्र तुम करते थे न? बारम्बार स्तोत्र करते थे। भाई, पहाड़े। यह पाँच स्तोत्र प्रतिदिन बोलने की आदत थी। रटे जाये ऐसे के ऐसे रूढ़िगत से और स्वाध्याय करना, वह दूसरी स्वाध्याय रह जाये। यह पूरे दिन करे, वह स्वाध्याय कब करे फिर?

हे भगवान! **छत्र धारण करनेवाले की तरह, उस इन्द्र के लिए ही आत्मसुख का कारण है।** क्या कहा? यह इन्द्र आपकी सेवा करे, उसमें आपको कुछ उपकार नहीं है। सूर्य को कोई छत्र धरे, उसमें सूर्य को कुछ नहीं परन्तु छत्र धरनेवाले को धूप नहीं आती। इसी प्रकार प्रभु! आपकी सेवा करनेवाले को दुःख और अशान्ति नहीं रहते। समझ में आया? देखा न! दृष्टान्त भी कैसा दिया है!

भावार्थ :- जिस प्रकार कोई सूर्य के लिए छाता लगावे.... छत्र। यह छत्री। **तो उससे सूर्य का कुछ भी उपकार नहीं होता....** सूर्य का उपकार होगा छत्री में? **क्योंकि वह सूर्य छाता लगानेवाले से बहुत ऊपर है....** वह सूर्य तो कहाँ का कहाँ है। **परन्तु**

छाता लगानेवाले को अवश्य ही छाया का सुख होता है;.... छाया.... छाया.... छाया.... उसे छत्र लगाया। **उसी प्रकार इन्द्र आपकी सेवा करता है, उससे आपका क्या भला होता था? इन्द्र को ही लाभ होता है....** नाथ! आपका उसमें क्या भला है? **क्योंकि वह वास्तव में आपके स्वरूप को समझ ही नहीं सका था।** आप सर्वज्ञ प्रभु पूर्णानन्द, वह कहाँ से उसकी दशा में पूर्ण दशा में वह आवे?

उल्टा शुभास्रव होने से उसी का भला होता है। लो! पुण्य-परिणाम होने पर उसे शीतल छाया संयोग की मिलती है और अन्तर की परिणति में आपको पधराने से अन्तर में शीतलता मिलती थी। भगवान! आप तो कहीं दूर रह गये! समझ में आया? इसी प्रकार आत्मा में भी.... पर्याय में परिणति शुद्ध होने पर कहीं भगवान ध्रुव को कुछ लाभ नहीं होता। क्या कहा? यह परिणति द्रव्य की सेवा करे, इससे द्रव्य को कुछ लाभ (नहीं है)। शुद्ध स्वभाव की परिणति—पर्याय द्रव्य की सेवा करे परन्तु द्रव्य को कुछ नहीं मिलता। द्रव्य को उपकार या सेवा नहीं होती। परन्तु प्रभु की सेवा करनेवाले की परिणति में सुखपना प्राप्त हुए बिना नहीं रहता। समझ में आया? देखो तो सही, यह चैतन्यप्रभु! कहते हैं कि प्रभु! आपकी सेवा करने से कहीं आपको जरा भी लाभ हो ध्रुव को? ध्रुव चैतन्य अनादि-अनन्त ज्ञायकभाव को कुछ लाभ होगा? चन्दुभाई! लाभ होगा? नहीं।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : वह तो सदा एक स्वरूप ही है। उसकी सेवा करने से उसे कहाँ लाभ है? परन्तु परिणति ने—पर्याय ने पर्यायवान आत्मा की सेवा की, उसे पर्याय में सुख हुए बिना नहीं रहता, शान्ति मिले बिना नहीं रहती, ऐसा ही कोई विचित्र उसका स्वभाव है। कहो, समझ में आया?

काव्य १८

क्वोपेक्षकस्त्वं क्व सुखोपदेशः,
स चेत्किमिच्छाप्रतिकूलवादः।
क्वासौ क्व वा सर्वजगत्प्रियत्वं,
तन्नो यथातथ्यमवेविचं ते॥

कहाँ तुम्हारी वीतरागता, कहाँ सौख्यकारक उपदेश।
हो भी तो कैसे बन सकता, इन्द्रिय-सुख विरुद्ध आदेश॥
और जगत को प्रियता भी तब, सम्भव कैसे हो सकती।
अचरज, यह विरुद्ध गुणमाला, तुममें कैसे रह सकती॥

अन्वयार्थ — हे प्रभु! (उपेक्षकः त्वम् क्व) कहाँ राग-द्वेषरहित आप? और (सुखोपदेशः क्व) कहाँ सुख का उपदेश देना? (चेत्) यदि आप (सः) सुख का उपदेश देते हैं, (तर्हि) तो आपका (इच्छाप्रतिकूलवादः) इच्छा के विरुद्ध बोलना ही कहाँ है? अर्थात् आपके इच्छा नहीं है — ऐसा कथन क्यों किया जाता है? (असौ क्व) कहाँ इच्छा के अभाव में बोलना? (वा) और (सर्वजगत्प्रियत्वम्) कहाँ सब जीवों को प्रिय होना? इस तरह आपकी प्रत्येक बात में विरोधाभास है; (तत्) अतः मैं (ते यथातथ्यम् नो अवेविचम्) आपकी वास्तविकता, आपके असलीरूप का विवेचन नहीं कर सकता।

भावार्थ — हे भगवन्! जब आप राग-द्वेष से रहित हैं तो किसी को सुख का उपदेश कैसे देते हैं? यदि सुख का उपदेश देते हैं तो इच्छा के बिना कैसे उपदेश देते हैं? यदि इच्छा के बिना उपदेश देते हैं तो जगत् के सब जीवों को प्रिय कैसे हैं? इस तरह आपकी सब बातें परस्पर विरुद्ध हैं। वस्तुतः आपकी असलियत को कोई नहीं जान सकता।

काव्य - १८ पर प्रवचन

१८ (श्लोक)।

क्वोपेक्षकस्त्वं क्व सुखोपदेशः,
स चेत्किमिच्छाप्रतिकूलवादः।
क्वासौ क्व वा सर्वजगत्प्रियत्वं,
तन्नो यथातथ्यमवेविचं ते॥

मुमुक्षु : वास्तव में....

पूज्य गुरुदेवश्री : वह समझ नहीं सकता पूर्ण। ऐसा। कहा न पहले। पूर्ण न उसे ख्याल में आवे। पूर्ण कहाँ प्रगट हुआ है, इस अपेक्षा से बात है। समझ सकता है।

कहाँ तुम्हारी वीतरागता, कहाँ सौख्यकारक उपदेश।
हो भी तो कैसे बन सकता, इन्द्रिय-सुख विरुद्ध आदेश॥
और जगत को प्रियता भी तब, सम्भव कैसे हो सकती।
अचरज, यह विरुद्ध गुणमाला, तुममें कैसे रह सकती॥

आहाहा! बनाया है न अन्दर से! हृदय उद्गार निकाले हैं अन्दर से, हों! क्या कहते हैं, देखो!

अन्वयार्थ :- हे नाथ! कहाँ राग-द्वेषरहित आप? आप तो प्रभु! विकल्पातीत और राग-द्वेषरहित तथा **कहाँ सुख का उपदेश देना?** और दुनिया को सुख होने का कहाँ उपदेश! आप राग-द्वेषरहित और सुख का उपदेश दो। ओहोहो! यह तो कोई...! समझ में आया? आप तो वीतराग सर्वज्ञ प्रभु कहाँ और आपकी दिव्यध्वनि में दूसरे को सुख हो, ऐसा कहाँ? समझ में आया? **यदि आप सुख का उपदेश देते हैं, तो आपका इच्छा के विरुद्ध बोलना ही कहाँ है?** अर्थात् आपको इच्छा नहीं और वाणी निकलती है। एक बात। **अर्थात् आपके इच्छा नहीं है — ऐसा कथन क्यों किया जाता है?** आप सुख का उपदेश देते हो और फिर इच्छा है नहीं। भारी विरोध भाई! समझ में आया?

कहाँ इच्छा के अभाव में बोलना ? दो बात है इसमें। एक तो जगत को इच्छा है और आपका उपदेश उसे इच्छा नहीं करने का मिलता है, तथापि आपको जगत प्रियरूप से स्वीकार करता है। सेठी! समझे ? जीवों को प्रिय होना कहाँ ? यह इच्छा आपको नहीं, तथापि इच्छावालों को आप सुख का उपदेश देते हो, तथापि आप जगत को प्रिय हो गये हो। उनकी इच्छा से विरुद्ध उपदेश है। जगत की इच्छा सुख को बाहर से प्राप्त करने की है, आप उसके नाश को करना चाहते हो, तथापि प्रभु! आप जगत को प्रिय हो। यह तो तेरी कोई विचित्रता! उनकी इच्छा विरुद्ध चले, उसका तो दुश्मन हो। कहो, इसमें आता है या नहीं ? भीखाभाई! महिमा।

इस तरह आपकी प्रत्येक बात में विरोधाभास है;.... भगवान! आपको तो प्रत्येक में विरोध है। इच्छा नहीं, उपदेश मूसलाधार निकले। समझ में आया ? और वह भी आपकी इच्छा बिना का सुख का उपदेश निकले, दूसरे को सुख होने का। सामनेवाले को इच्छा है, उसे तोड़ने का उपदेश निकले। आहाहा! सामने इच्छावन्त प्राणी है, उसको इच्छा निरोध करने का उपदेश निकले, तथापि प्रभु! आप महा उपकारी! ऐसा करके स्वीकार करता है। यह तुम्हारी तो विचित्रता लगती है! सामनेवाले को इच्छा विरुद्ध कहे उसे तो यह मेरा दुश्मन लगता है। मेरी तो मानता नहीं। मुझसे विरुद्ध ही यह पड़ा है। नरभेरामभाई! प्रभु! तेरी कोई बलिहारी है कि इच्छा बिना का उपदेश और इच्छावालों को सुखरूप उपदेश! समझ में आया ?

उस प्रकार से मैं आपकी वास्तविकता, असलीरूप का विवेचन नहीं कर सकता। प्रभु! विकल्प से क्या स्वरूप का विवेचन करूँ ? यह वाणी व्यभिचारिणी, इससे चैतन्य की महिमा कितनी आवे ? आपकी महिमा क्या कहूँ ? आप तो विकल्पातीत हो। इस प्रकार होऊँ तो आपकी महिमा अन्दर में ज्ञात हो।

भावार्थ :- हे भगवन्! जब आप राग-द्वेष से रहित हैं तो किसी को सुख का उपदेश कैसे देते हैं ? क्या यह विरोध ? यह दो विरोध आपमें कैसे लगते हैं यह ? **यदि सुख का उपदेश देते हैं तो इच्छा के बिना कैसे उपदेश देते हैं ?** एक तो आपको इच्छा नहीं और उपदेश देते हो। **यदि इच्छा के बिना उपदेश देते हैं तो जगत् के सब जीवों को**

प्रिय कैसे हैं? आहाहा! प्रभु वीतरागस्वभाव पूर्णानन्द सर्वज्ञस्वभाव! आपकी इच्छा बिना वाणी निकली और दूसरे प्राणी को प्रिय लगती है। आहाहा! वाह रे वाह! जगत प्रिय! यह परमेष्ठी हैं। परमेष्ठी हैं। परम इष्ट करनेयोग्य हैं। आपमें विरोधता प्रभु! इस प्रकार भासित होती है। समझ में आया? भाई! यह नहीं पढ़ा था न यह, तो यह इस बार यह नया आया। कुछ नया आना चाहिए न भक्ति में।

यदि इच्छा के बिना उपदेश देते हैं तो जगत् के सब जीवों को प्रिय कैसे हैं? इस तरह आपकी सब बातें परस्पर विरुद्ध हैं। आपकी सब बात में प्रभु हमें तो विरोध लगता है, हों! ऐसा करके सामंजसता इसमें स्थापित करते हैं। बराबर है, प्रभु! आपकी इच्छा बिना उपदेश पूर्ण हो तो आपकी पास ही है। इच्छावालों के पास ऐसा उपदेश नहीं हो सकता। इच्छा बिना का आपका उपदेश पूर्ण सुख का देनेवाला आपके पास ही होता है और इच्छावालों को भी आप प्रिय हो गये हो। भगवान जो कहना चाहते हैं कि इच्छारहित होओ। सुखी होना हो तो इच्छारहित होओ। 'क्या इच्छत खोवत सबे, है इच्छा दुःख मूल।' उस इच्छारहित तेरी चीज़ है। हमने प्राप्त की है। तुझे प्राप्त करने का रास्ता और उपाय बतलाते हैं। इसलिए जगत के इच्छावाले प्राणी को भी आप प्रिय हो गये हैं।

काव्य - १९

तुङ्गात्फलं यत्तदकिंचनाच्च,
प्राप्यं समृद्धान्न धनेश्वरादेः।
निरम्भसोऽप्युच्चतमादिवाद्रे -
र्नैकापि निर्याति धुनी पयोधेः॥

तुम समान अति तुङ्ग किन्तु, निधनों से जो मिलता स्वयमेव।
धनद आदि धनिकों से वह फल, कभी नहीं मिल सकता देव॥
जलविहीन ऊँचे गिरिवर से, नाना नदियाँ बहती हैं।
किन्तु विपुल जलयुक्त जलधि, नहीं निकलती, झरती हैं॥

अन्वयार्थ - (तुङ्गात् अकिंचनात् च) उदार चित्तवाले दरिद्र मनुष्य से भी (यत्फलम्) जो फल (प्राप्यम् अस्ति) प्राप्त हो सकता है, (तत्) वह (समृद्धात् धनेश्वरादेः न) सम्पत्तिवाले धनाढ्यों से नहीं प्राप्त हो सकता है। ठीक ही तो है (निरम्भसः अपि उच्चतमात् अद्रेः इव) पानी से शून्य होने पर भी अत्यन्त ऊँचे पहाड़ के समान, (पयोधेः) समुद्र से (एका अपि धुनी) एक भी नदी (न निर्याति) नहीं निकलती है।

भावार्थ - पहाड़ के आस-पास पानी की एक बूँद भी नहीं है परन्तु उसकी प्रकृति अत्यन्त उन्नत है; इसलिए उससे कई नदियाँ निकलती हैं परन्तु समुद्र से जो कि पानी से लबालब भरा रहता है, एक भी नदी नहीं निकलती। इसका कारण समुद्र में ऊँचाई का अभाव है। भगवन्! मैं जानता हूँ कि आपके पास कुछ भी नहीं है परन्तु आपका हृदय पर्वत की तरह उन्नत है, दीन नहीं है; इसलिए आपसे हमें जो चीज मिल सकती है, वह अन्य धनाढ्यों से नहीं मिल सकती क्योंकि समुद्र के समान वे भी ऊँचे नहीं हैं अर्थात् कृपण हैं।

काव्य - १९ पर प्रवचन

१९ (श्लोक)।

तुङ्गात्फलं यत्तदकिंचनाच्च,
प्राप्यं समृद्धान्न धनेश्वरादेः।
निरम्भसोऽप्युच्चतमादिवाद्रे -
र्नैकापि निर्याति धुनी पयोधेः॥

तुम समान अति तुङ्ग किन्तु, निधनों से जो मिलता स्वयमेव।
धनद आदि धनिकों से वह फल, कभी नहीं मिल सकता देव॥
जलविहीन ऊँचे गिरिवर से, नाना नदियाँ बहती हैं।
किन्तु विपुल जलयुक्त जलधि से नहीं निकलती, झरती हैं॥

क्या कहते हैं? हे भगवान! तुम उदार चित्तवाले दरिद्र मनुष्य से भी जो फल

प्राप्त हो सकता है,.... पैसे रहित भले हो, परन्तु जिसका चित्त उदार है। जगत में बड़ा पैसेवाला कहलाता नहीं। दरिद्र भले हो, परन्तु जिसका चित्त उदार है, उससे कुछ मिलेगा। सेठी!

मुमुक्षु : .....

पूज्य गुरुदेवश्री : सेवा करेंगे सब। सब सेवा देंगे। वे नहीं दें, ऐसी मिठास की सेवा। समझ में आया? आहाहा!

उदार चित्तवाले दरिद्र मनुष्य से भी जो फल प्राप्त हो सकता है,.... मीठे वचन कहकर, सेवा से वह देगा। **वह सम्पत्तिवाले धनाढ्यों से नहीं प्राप्त हो सकता है।** अरबोंपति के निकट न मिले ऐसा प्रभु! उस दरिद्र के निकट उसकी मिठास, वाणी, शान्ति, सेवा सब उसके पास से मिलेगी। **ठीक ही तो है पानी से शून्य होने पर भी....** पर्वत में पानी की बूँद नहीं, प्रभु! बड़े पर्वत में पानी की बूँद नहीं। **लेकिन अत्यन्त ऊँचे पहाड़ के समान,....** उसमें से नदियाँ बहती हैं। आप तो प्रभु! कुछ रखते नहीं। समझ में आया? तथापि आपके पास जो नदियाँ बहे उपदेश की, वह कुबेर जैसे धनाढ्य के पास और अज्ञान के क्षयोपशमवाले के पास मिले ऐसा नहीं है। क्या कहा? कि प्रभु! बड़े पर्वत हैं न, वहाँ पानी ऊपर नहीं भरा। समझ में आया? तथापि नदियाँ वहाँ से बहती हैं और समुद्र में भरचक पानी भरा है परन्तु समुद्र से नदियाँ कभी नहीं झरतीं।

मुमुक्षु : .....

पूज्य गुरुदेवश्री : बहुत दिया?

इसी प्रकार हे नाथ! आप मानो कुछ देने के योग्य न हो, आपके पास कुछ नहीं है, ऐसा लगे, परन्तु तो भी आप जो देते हो, वह धनाढ्य, अज्ञानी क्षयोपशमवाले और कुबेर भी वह नहीं दे सकते। समझ में आया? अमृत बरसावे दिव्यध्वनि के और उस समय का केवलज्ञान वहाँ परिणतिरूप से परिणम रहा है। आहाहा! कोई इच्छा नहीं। लेने-देने की वृत्ति नहीं। इसे दूँ, इसकी करुणा नहीं। परन्तु प्रभु! आपको देने की ताकत.... उस दरिद्र से सब मिलता है। नहीं है, वहाँ से नदी बहती है। पर्वत में नहीं, वहाँ नदी बहती है। उन्नत प्रकृतिवाले प्रभु आप हैं। आपका स्वभाव अनन्त... अनन्त...

अनन्त है। आपसे सब मिलता है। इस पानी से भरचक समुद्र कभी नदी नहीं निकली, सुनी नहीं। इसी प्रकार कंजूसों के पास पैसे का पार नहीं होता परन्तु उसमें से कहीं नदी बहती नहीं। कंजूस अर्थात् समझ में आता है।

जिसे आत्मा का भान नहीं और जिसने राग में अपना धर्म मानकर बैठे, ऐसे भले ऐसा मानते हों कि हम बहुत उघाड़वाले हैं, बहुत जानकारीवाले हैं, हमारे पुण्य बड़े, दुनिया हमको बहुत मानती है। परन्तु प्रभु! वहाँ से नदी नहीं आती, हों! समझ में आया? वहाँ समुद्र नहीं फटता। समुद्र नहीं फटता। पत्थर में से नदियाँ प्रवाहित होती हैं। इसी प्रकार भगवान! आप चैतन्य उन्नत हो। उसकी धारा आपमें से जो निकली, वह दुनिया निहाल हो, ऐसा आप कुछ देते हो। और वे सब पढ़े-गिने दुनिया में बड़े कहलायें। कितने ही देव भी माने उनके नजदीक हो न ऐसे। राजा, महाराजा, करोड़ों मनुष्य माने, परन्तु प्रभु! वे धनाढ्य कहलाते हैं, परन्तु वहाँ से नदी निकलेगी नहीं। ऐसा कहकर यह दृष्टान्त भी दिया कि दरिद्र उदार।

एक जगह ऐसा बना था। साढ़े तीन रुपये की पूँजी उसके पास थी। सब बैठे। साढ़े तीन दिये। इतना तो समझे न वकील है तो। वह मानो कि वह दृष्टान्त यहाँ उतारेंगे साढ़े तीन में। और दूसरे अरबोंपति बैठे थे। उसने कहा कि यह साढ़े तीन रुपये मेरे हैं भाई! यह अभी दान की आवश्यकता है, इसलिए प्रभावना (रूप से) मेरे पास साढ़े तीन हैं, देता हूँ। दूसरों ने किसी ने दस लाख और पाँच लाख लिखाये। तब उसका जो प्रमुख था लिखनेवाला (उसने कहा) कि इन सबकी अपेक्षा इसने अधिक दान दिया है। साढ़े तीनवाले ने। सबकी अपेक्षा दान इसने दिया, था, उतना दे दिया। और यह सब पचास-पचास लाख और करोड़पति कहलाते हैं, वे अंक गिनते हैं। इसने बड़े ने कितना दिया? उससे मुझे छोटा देना चाहिए। होता है न तुम्हारे? क्या कहलाता है चन्दा। चन्दा करे न? यह सर हुकमीचन्द ने पहले इतना लिखाया। उससे अधिक नहीं लिखाया जाता। सेठी!

इसी प्रकार हे नाथ! परमात्मा! आपके पास इच्छा और राग नहीं है। और दिव्यध्वनि का जो अपार उपदेश आता है, आपके पास मिले, ऐसा दूसरों के पास मिले,

ऐसा नहीं है। देखो! उसकी ध्वनि की, उनके ज्ञान की महिमा अन्तर में उतरे, उसे भक्ति कहा जाता है। कहो, समझ में आया?

भावार्थ :- पहाड़ के आस-पास पानी की एक बूँद भी नहीं है.... है? **परन्तु उसकी प्रकृति अत्यन्त उन्नत है;....** उन्नत-उन्नत प्रकृति पहाड़ की। **इसलिए उससे कई नदियाँ निकलती हैं...** कई नदियाँ निकलती हैं। **परन्तु समुद्र से जो कि पानी से लबालब भरा रहता है,....** समुद्र तो ऐसे लबालब भरा हुआ है। **एक भी नदी नहीं निकलती।** धर्मात्मा का एक भी वचन पूर्णता को प्राप्त कराये, ऐसा होता है, ऐसा कहते हैं। और अज्ञानी के मूसलधार वर्षा बरसती हो, परन्तु उसमें से कुछ मिले, ऐसा नहीं होता। यह ऐसा कहना चाहते हैं। समझ में आया? ज्ञानी का एक वाक्य। एक वाक्य भी सुना हो तो निहाल हो जाये, ऐसा शास्त्र में आता है। समझ में आया? एक वाक्य भी मिला हो यथार्थरूप से। अन्दर से स्पर्श कर आया है न! लोग निहाल हो जाते हैं। परन्तु वे भरपूर क्षयोपशम के ग्यारह अंग और नौ पूर्व के पाठक, प्रभु! उनमें से कुछ नहीं मिलता, हों! उनमें से नदी-बदी नहीं बहती।

इसका कारण समुद्र में ऊँचाई का अभाव है। क्या कहा? समुद्र ऊँचा नहीं है इसलिए नदी कहाँ से निकले? उन्नत नहीं है। और **हे भगवन्! मैं जानता हूँ कि आपके पास कुछ भी नहीं है परन्तु आपका हृदय पर्वत की तरह उन्नत है,....** पर्वत की तरह उन्नत.... उन्नत.... उन्नत.... उस जाति का विकल्प था न, केवलज्ञान हुआ तो धारा ऐसी छूटती है कि प्राणी धर्म प्राप्त किये बिना रहता ही नहीं। भगवान की ऐसी वाणी होती है कि वहाँ सुननेवाले, धर्म प्राप्त करनेवाले न हों, ऐसा नहीं हो सकता।

इसलिए आपसे हमें जो चीज मिल सकती है,... आपसे जो चीज़ मिल सकती है। **वह अन्य धनाढ्यों से नहीं मिल सकती....** ऐसे दूसरे क्षयोपशमवाले आदि हो या दूसरे विभंग आदि के उघाड़नेवाले हों, उनसे भी हमारा कल्याण होगा, ऐसा नहीं है। **क्योंकि समुद्र के समान वे भी ऊँचे नहीं हैं अर्थात् कृपण हैं।** वे भी कृपण हैं।

काव्य - २०

त्रैलोक्यसेवानियमाय दण्डं,
दध्रे यदिन्द्रो विनयेन तस्य।
तत्प्रातिहार्य भवतः कुतस्त्यं,
तत्कर्मयोगाद्यदि वा तवास्तु॥

करो जगतजन जिनसेवा, यह समझाने को सुरपति ने।
दण्ड विनय से लिया, इसलिए प्रातिहार्य पाया उसने॥
किन्तु आपके प्रातिहार्य वसु-विधि हैं सो आए कैसे?।
हे जिनेन्द्र! यदि कर्मयोग से, तो वे कर्म हुए कैसे?॥

अन्वयार्थ — (यत्) जिस कारण से (इन्द्रः) इन्द्र ने (विनयेन) विनयपूर्वक (त्रैलोक्यसेवानियमाय) तीन लोक के जीवों की सेवा करने के नियम के लिए अर्थात् मैं त्रिलोक के जीवों की सेवा करूँगा और उन्हें धर्म के मार्ग पर लगाऊँगा — इस उद्देश्य से (दण्डम्) दण्ड (दध्रे) धारण किया था, (तत्) उस कारण से (प्रातिहार्यम्) प्रातिहार्यपना (तस्य स्यात्) इन्द्र के ही हो सकता है, (भवतः कुतस्त्यम्) आपके कैसे हो सकता है? (यदि वा) अथवा (तत्कर्मयोगात्) तीर्थङ्कर नामकर्म का संयोग होने से या इन्द्र के उस कार्य में प्रेरक होने से (तव अस्तु) आपके भी प्रातिहार्य -प्रतीहारपना हो।

भावार्थ — जब भगवान् ऋषभनाथ भोगभूमि के बाद कर्मभूमि की व्यवस्था करने के लिए तैयार हुए, तब इन्द्र ने आकर भगवान् की इच्छानुसार सब व्यवस्था करने के लिए दण्ड धारण किया था अर्थात् प्रतिहार पद स्वीकार किया था। जो किसी काम की व्यवस्था करने के लिए दण्ड धारण किया करता है, उसे प्रतिहार कहते हैं। प्रतिहार के कार्य अथवा भाव को संस्कृत में प्रातिहार्य कहते हैं। हे प्रभो! जब इन्द्र ने सब व्यवस्था की थी, तब सच्चा प्रातिहार्य-प्रतिहारपना इन्द्र के ही हो सकता है, आपके कैसे हो सकता है? क्योंकि आपने प्रतिहार का काम थोड़े ही किया था! फिर भी यदि आपके प्रातिहार्य होता ही है, ऐसा कहना है तो उपचार से

कहा जा सकता है क्योंकि आप इन्द्र के उस काम में प्रेरक थे।

अथवा इस श्लोक का ऐसा भाव भी हो सकता है — 'तीन लोक के जीव भगवान् की सेवा करो,' इस नियम को प्रचलित करने के लिए इन्द्र ने हाथ में दण्ड लिया था, इसलिए प्रातिहार्यत्व इन्द्र के ही बन सकता है; आपके नहीं। अथवा आपके भी हो सकता है क्योंकि आपसे ही इन्द्र की उस क्रिया का कर्म-कारक का सम्बन्ध होता था।

यहाँ एक और भी गुप्त अर्थ है, वह इस प्रकार है — लोक में प्रातिहार्य पद का अर्थ आभूषण प्रसिद्ध है। भगवान के भी अशोकवृक्ष आदि आठ प्रातिहार्य या आभूषण होते हैं। यहाँ कवि प्रातिहार्य पद के श्लेष से पहले यह बतलाना चाहते हैं कि संसार के अन्य देवों की तरह आपके शरीर पर प्रातिहार्य नहीं हैं। इन्द्र के प्रातिहार्य अर्थात् प्रतिहारीपना हो, पर आपके प्रातिहार्य या आभूषण कहाँ से आये? फिर उपचारपक्ष का आश्रय लेकर कहते हैं कि आपके भी प्रातिहार्य हो सकते हैं। उसका कारण है 'तत्कर्मयोगात्' अर्थात् आभूषणों के कार्य सौन्दर्यवृद्धि के साथ आपका सम्बन्ध होना है।

काव्य - २० पर प्रवचन

२०वीं।

त्रैलोक्यसेवानियमाय दण्डं,
दध्रे यदिन्द्रो विनयेन तस्य।
तत्प्रातिहार्यं भवतः कुतस्त्यं,
तत्कर्मयोगाद्यदि वा तवास्तु॥

करो जगतजन जिनसेवा, यह समझाने को सुरपति ने।
दण्ड विनय से लिया, इसलिए प्रातिहार्य पाया उसने॥
किन्तु आपके प्रातिहार्य वसु-विधि हैं सो आए कैसे?।
हे जिनेन्द्र! यदि कर्मयोग से, तो वे कर्म हुए कैसे?॥

अन्वयार्थः-जिस कारण से इन्द्र ने विनयपूर्वक तीन लोक के जीवों की सेवा करने के नियम के लिए अर्थात् मैं त्रिलोक के जीवों की सेवा करूँगा और उन्हें धर्म के मार्ग पर लगाऊँगा—इस उद्देश्य से दण्ड धारण किया था,.... दण्ड अर्थात् छड़ी। भगवान जब संसार में थे, तब इन्द्र छड़ीदार थे। छड़ीदार। खम्मा अन्नदाता! इन्द्र हों छड़ीदार। प्रभु! आपके यह प्रातिहार्य। केवलज्ञान होने के पश्चात् भी यह प्रातिहार्य अर्थात् शोभा में वे कारण हुए। और **सेवा करूँगा और उन्हें धर्म के मार्ग पर लगाऊँगा—इस उद्देश्य से दण्ड धारण किया था,....** दण्ड अर्थात् यह क्या कहा? छड़ी-छड़ी। **उस कारण से प्रातिहार्यपना इन्द्र के ही हो सकता है,....** प्रभु! वह तो इन्द्रपने का प्रातिहार्यपना आया। तुमको आठ प्रातिहार्य कहते हैं, वह कहाँ से आया? आपको आठ प्रातिहार्य होते हैं, ऐसा जगत तो कहता है। परन्तु वह तो इन्द्र को प्रातिहार्यपना शोभता है। आया तो उसे। हाथ में छड़ी रखकर। खम्मा अन्नदाता! इनका धर्म उपदेश सुनो। जगत के जीव इन गुरु का विनय करो। जगतगुरु हैं। दुन्दुभी बजाते हैं या नहीं? हे तीन लोक के जीवो! भगवान का उपदेश सुनने आओ। यहाँ से मिलेगा, ऐसा कहीं मिलेगा नहीं। इस प्रकार छड़ी पुकारते हैं इन्द्र वहाँ जाकर। प्रभु! उसे प्रातिहार्य में कहने में आता है, हों!

इस उद्देश्य से दण्ड धारण किया था, उस कारण से प्रातिहार्यपना इन्द्र के ही हो सकता है, आपके कैसे हो सकता है? लोग नहीं कहते, तुम्हारे कहाँ से आया प्रातिहार्यपना? और दुनिया कहती है कि आप प्रातिहार्य हो। आपके प्रातिहार्य है, ऐसा कहते हैं। **अथवा तीर्थंकर नामकर्म का संयोग होने से या इन्द्र के उस कार्य में प्रेरक होने से....** देखो! प्रेरक अर्थात् निमित्त। भगवान! बराबर है। आपको ही प्रातिहार्यपना है। क्योंकि तीर्थंकर प्रकृति का उदय वह तो निमित्त पड़ा, तब वह प्रातिहार्य कहने में आया। वास्तव में प्रातिहार्य आपको ही है। विरोध (अलंकार) करके बात करनी है न? समझ में आया?

गरीब मनुष्य हो न, ऐसा कहते हैं न? भाई! यह गहना तेरे कहाँ से आया? यह तुझे वहाँ कहाँ से आया? भाई! आया। देख न अब। इसी प्रकार इन्द्र को कहाँ से प्रातिहार्यपना? आपको कहाँ से प्रातिहार्यपना आया? प्रतिहार तो उसने छड़ी पकड़ी थी। भगवान! परन्तु बराबर है, हों! क्योंकि आपका कर्म ही तीर्थंकरगोत्र ऐसा कर्मयोगात

है, उसके कारण वह दशा उसकी होती है। इसलिए आपके ही प्रातिहार्य कहा जाता है। वह आपकी शोभा है। इन्द्र की शोभा नहीं, ऐसा कहना चाहते हैं। **तीर्थंकर नामकर्म का संयोग होने से या इन्द्र के उस कार्य में प्रेरक होने से....** प्रेरक अर्थात् निमित्त है, इतनी बात है। **आपके भी प्रातिहार्य-प्रतिहारपना हो।** आपको भी प्रातिहार्यपना है।

भावार्थ :- जब भगवान् ऋषभनाथ भोगभूमि के बाद कर्मभूमि की व्यवस्था करने के लिए तैयार हुए, तब इन्द्र ने आकर भगवान् की इच्छानुसार सब व्यवस्था करने के लिए दण्ड धारण किया था..... क्योंकि भगवान तो तीन ज्ञान के धनी थे। इन्द्र उनकी व्यवस्था या आजीविका के लिये यह (की)। **अर्थात् प्रतिहार पद स्वीकार किया था। जो किसी काम की व्यवस्था करने के लिए दण्ड धारण किया करता है, उसे प्रतिहार कहते हैं। जैसे कि आजकल लाठी धारण किये हुए....** वॉलियन्टर होते हैं न? स्वयंसेवक।

प्रतिहार के कार्य अथवा भाव को संस्कृत में प्रातिहार्य कहते हैं। प्रातिहार्य। समझे न? **हे प्रभो! जब इन्द्र ने सब व्यवस्था की थी, तब सच्चा प्रातिहार्य-प्रतिहारपना इन्द्र के ही हो सकता है, आपके कैसे हो सकता है? क्योंकि आपने प्रतिहार का काम थोड़े ही किया था!** आपने काम किया? स्वयंसेवकों ने किया है। समझ में आया? तथापि सब डालते हैं दूसरे को। **फिर भी यदि आपके प्रातिहार्य होता ही है, ऐसा कहना है तो उपचार से कहा जा सकता है क्योंकि आप इन्द्र के उस काम में प्रेरक थे।** इन्द्र को तीर्थंकर नामकर्म का निमित्त आपका था, इसलिए प्रतिहार्यपना है। इसलिए आपकी शोभा है। प्रतिहार में इन्द्र की शोभा नहीं। विशेष कहेंगे.....

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)